तृतीय अध्याय
'भक्ति का स्वरूप'

तृतीय अध्याय

भक्ति का स्वरूप

मनुष्य विचारप्रधान प्राणी है । उसे "विचार शक्ति" का वरदान मिला है। इस विचारशक्ति का अन्य प्राणियों में अभाव दिखायी देता है । मनुष्य अपनी विचारशक्ति के कारण ही सभ्य बनता गया है और कार्य करने के लिए प्रेरित हुआ है । आगे चलकर मनुष्य ने समाज के रूप में संगठित होकर अपनी विचारशक्ति एवं ज्ञान से दूसरों पर अपना अधिकार स्थापित किया । उसने शासनकार्य में नैतिकता लाने के लिए एक शक्तिशाली सत्ता की कल्पना की और वह उसे ईश्वर के रूप में देखने लगा । इतना ही नहीं मनुष्य ने ईश्वर को शासक, नियामक और दण्डदाता के रूप में स्वीकार किया ।

भगवान का स्वरूप :

भगवान के स्वरूप के संबंध में वैदिक धर्म में चर्चा हो गयी है । उसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व है और वह सत्य है । वह चेतन है । वह भक्त की प्रार्थना सुन सकता है । वह असीम, अनंत, सच्चिदानंद और सर्वान्तर्यामी है । वह सबके अन्दर और बाहर भी उपस्थित है । वह सब कुछ जानता है । वह सर्वशक्तिमान है इसलिए ईश्वर अनुपम और अद्वितीय है । आधुनिक विद्वान डॉ• मुंशीराम शर्मा ने अपनी "भक्तितरंगिणी" में कहा है, "प्रभु कुछ प्रकट है और कुछ ऐसा है, जो अप्रकट है, अज्ञात और अविदित है ।"

पाश्चात्य विद्वानों के "विकासवाद" के अनुसार मनुष्य ने एक महान शक्तिसंपन्न पुरुष के रूप में ईश्वर की कल्पना की है और उस पर मनुष्य ने विश्वास भी किया है । हर्बार्ट स्पेन्सर और हेगेल ने उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह सब एक शक्ति का प्रकाश है और वह शक्ति ही ईश्वर है ।

भक्ति में दो पक्षों का समावेश :

भक्ति में दो पक्षों का समावेश होता है - एक ईश्वर और दूसरा भक्त । भक्त के मन में ईश्वर के प्रति आसक्ति होती है । उसके मन में आसक्ति से प्रेम निर्माण होता है । सच्चे भक्त में प्रेम और सदाचार का होना अनिवार्य है । भक्त की ईश्वर के प्रति प्रेम की उत्कटता ही भक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है । भक्त ईश्वर के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करता है । वह अपना सब कुछ त्यागकर ईश्वर के लिए अर्पित हो जाता है । वह ईश्वर - दर्शन के लिए अधीर बन जाता है । रमेशकुमार सट्टर ने कहा है - "वास्तविक भक्त वह है जो अनन्य है, जो ईश्वर - प्रेम में बाधक सभी तत्वों का त्याग कर देता है और जो अन्य सभी आश्रयों को छोडकर केवल ईश्वर की शरण प्राप्त करता है ।"[1]

भक्त सर्वप्रथम ईश्वर की महिमा, दया, करुणा आदि गुणों को समझता है । वह ईश्वर के कीर्तन, स्तुति और गुणगान में मग्न हो जाता है । कीर्तन में वह अपने और ईश्वर के बीच दूरी का अनुभव करता है; किन्तु यह दूरी ईश्वर की निरंतर उपासना से समाप्त हो जाती है । इस तरह भक्त और ईश्वर के बीच अपनेपन का संबंध स्थापित हो जाता है ।

भक्ति का अर्थ :

भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति "भज्" धातु में "क्तिन" प्रत्यय लगने से होती है । इस शब्द का अर्थ "ईश्वर की सेवा और उसके प्रति अनुरक्ति" का भाव है । डॉ॰एन॰एस॰ दक्षिणामूर्ति के अनुसार - "भज्यते इति भज्+क्तिन - अर्थात भगवान की सेवा करना अथवा उपास्य के प्रति अनुराग ।"[2] डॉ॰ प्रभात, डॉ॰ रामप्रकाश, डॉ॰रामेश्वर

दयाल आदि विद्वानों ने भी भक्ति का अर्थ यही माना है । डॉ॰सुमन शर्मा ने "मध्यकालीन भक्ति आंदोलन का सामाजिक विवेचन" इस ग्रंथ में भक्ति का अर्थ "सेवा" कहा है । प्रमुख रूप से ईश्वर के चरणों में पूर्ण रूप से आत्मसमर्पित होना ही भक्ति है डॉ॰ हरिश्चन्द्र वर्मा एवं डॉ॰ रामनिवास गुप्त ने अपने ग्रंथ -"हिन्दी साहित्य का इतिहास" - में भक्ति का अर्थ श्रध्दा, सम्मान, अनुराग और सेवा माना है । सेवा का आलंबन कोई भी हो सकता है; किन्तु जिस अर्थ में इसका प्रयोग सामान्य जनता में प्रचलित है, वह आलंबन "ईश्वर" है । ईश्वर के प्रति अनुरक्ति ही भक्ति है । उक्त अर्थों की दृष्टि से श्रध्दा, प्रेम, विश्वास, सेवा आदि भावों से युक्त भगवत् - प्रेम का नाम ही भक्ति है ।

भक्ति की परिभाषा :

भिन्न - भिन्न ऋषियों तथा आचार्यों ने भक्ति की भिन्न - भिन्न परिभाषाएँ की हैं । भक्ति के स्वरूप को निर्धारित करनेके लिए विभिन्न भक्तों और विद्वानों ने भी भक्ति की परिभाषाएँ की हैं, जो इस प्रकार हैं - महर्षि नारद के अनुसार - " भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम - रूपा और अमृतस्वरूपा भी है ।" यह भक्ति व्रजगोपियों की तरह है । इस भक्ति में भक्त ईश्वर के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित होता है और उसके क्षणमात्र के विरह से व्याकुल बन जाता है ।

भक्ति की परिभाषाओं में सब से अधिक प्रचलित परिभाषा शाण्डिल्य की है । शाण्डिल्य ने ईश्वर में परम अनुरक्ति को भक्ति कहा है । उनके मतानुसार यह भक्ति निष्काम होनी चाहिए । "भागवत" में ईश्वर से निष्काम और अनवरत प्रेम को भक्ति कहा गया है ।

भक्तिकाल के भक्ति - आंदोलन के प्रवर्तकों और आचार्यों ने भक्ति की

परिभाषाएँ इस तरह स्पष्ट की हैं -

आचार्य शंकराचार्य ने कहा है कि अपने स्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है। निम्बार्क ने भगवान के रूप, गुण आदि के विषय में समग्र चित्त को व्याप्त कर देनेवाली वृत्ति को भक्ति कहा है । श्री रूपगोस्वामी ने अपने ग्रंथ "भक्ति - रसामृतसिंधु" में कहा है कि ईश्वर के प्रति प्रेम भक्ति है । वल्लभाचार्य के अनुसार - भगवान की महिमा का ज्ञान रखते हुए उससे सब से अधिक दृढ़ स्नेह करना भक्ति है । रामानुजाचार्य कहते हैं कि परमात्मा का निरन्तर स्मरण करना भक्ति है ।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक विद्वानों ने भक्ति की परिभाषा के संबंध में अपने विचार इस प्रकार स्पष्ट किए हैं -

डॉ॰ ध्रुवभट्टाचार्य ने "भक्तिकालीन काव्य में नायिका भेद" में कहा है कि सगुण, साकार परमेश्वर के प्रति भावना का गहन समायोजन भक्ति कहलाता है । भक्ति प्रेम की ही उच्चस्तरीय आध्यात्मिक स्थिति है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति को हृदय का धर्म कहा है । डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचारों में भगवान के प्रति अनन्य एकान्त प्रेम का नाम भक्ति है । डॉ॰ वचनदेव कुमार कहते हैं कि ईश्वर में स्नेहपूर्वक ध्यान लगाना भक्ति है ।

भक्ति में भक्त को ईश्वर का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है । वह कामनारहित होकर उसकी आराधना करता है । डॉ॰ कुमुदिनी पाटील ने लिखा है, "ईश्वर के प्रति कामनारहित परानुरक्ति, ईश्वर की अविचलनिरन्तर स्मृति, ईश्वर की अनन्य भाव से सेवा भक्ति है ।"[3]

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में सब से महत्वपूर्ण तत्व प्रेम या अनुराग है । भक्ति हमारे प्रेम-भाव का द्योतक है ; क्योंकी यह प्रेमभाव मानव के लिए सहज एवं

स्वाभाविक है । इस संसार में पूरे मानवीय संबंधो के मूल में प्रेम-तत्व महत्वपूर्ण है। यह मानव संस्कृति के विकास के साथ विकसित होता है। मानव के पूरे जीवन और उसके कार्य में प्रेम आवश्यक होता है । यह लौकिक प्रेम जब अलौकिक प्रेम में परिवर्तित होकर विकसित हो जाता है, तब उसे भक्ति का स्वरूप प्राप्त होता है । इसलिए डॉ॰ लीलाधर वियोगी कहते हैं, "प्रेम या अनुरक्ति का आध्यात्मिक रूप ही भक्ति है ।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भक्ति में एक ओर श्रध्दा का भाव है तो दूसरी ओर प्रेम - भाव प्रधान है । अतः ईश्वर के प्रति श्रध्दापूर्वक, निःस्वार्थ प्रेम या अनुरक्ति ही भक्ति है ।

भक्ति के साधन :

ईश्वर की प्रकृति एवं उसके स्वरूप के संबंध में जब मनुष्य के मन में जिज्ञासा पैदा हो गयी, तब वह अपने मन और इंद्रियों पर नियंत्रण रखकर, अंतर्मुखी बनकर ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करने लगा । मनुष्य के इस प्रयास को ही भक्ति - के क्षेत्र में साधना कहा गया है । भक्त अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अपने साधना मार्ग को ग्रहण करके निष्ठा के साथ ईश्वर की प्राप्ति के लिए अग्रसर हो जाता है । भक्ति के क्षेत्र में ईश्वर की प्राप्ति के लिए तीन साधनों का उल्लेख मिलता है - ज्ञान, कर्म, भक्ति । भक्ति के क्षेत्र में इन तीनों साधनों का अपना - अपना महत्व हैं।

भक्तों ने भक्ति की तुलना में कर्म की भी चर्चा की है । उन्होंने निष्काम कर्म को भक्ति का एक महत्वपूर्ण अंग माना है । "श्रीमद्भागवत" में निष्काम कर्म को प्रधानता दी गयी है । यह निष्काम कर्म ज्ञान और उपासना से संभव हो सकता है । ज्ञान बुध्दि से संबंधित है और उपासना श्रध्दा एवं विश्वास पर आधारित

है । कर्म के लिए जिस तरह ज्ञान और उपासना, बुध्दि और विश्वास की आवश्यकता होती है ; उसी तरह उपासना के लिए ज्ञान और कर्म की प्रधानता होती है । डॉ॰ मुंशीराम शर्मा ने कहा है - "ज्ञान मानव मस्तिष्क का आहार है, कर्म उसकी प्राण - सम्पत्ति है और उपासना उसके हृदय की विश्राम - भूमि है, सन्तप्त हृदय की शीतल छाया है । आत्मा की इसी से तृप्ति होती है ।"[5]

योगमार्ग यह ईश्वर - प्राप्ति का एक स्वतंत्र साधन है । संत ज्ञानेश्वर को स्वानुभूत योगी माना गया है । उन्होंने "ज्ञानेश्वरी" में भक्ति और योग की तुलना करते हुए कहा है कि योग की साधना जनसामान्य के लिए अत्यंत कठिन और क्लेशदायक होती है । योगी सुषुम्ना की सीढ़ियों से महदाकाश तक पहुँचकर ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । योगी इस कठिन साधना से निर्गुण, निराकार, शून्यस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है; किन्तु भक्त अपनी सहज, सुलभ साधना से ईश्वर के प्रति परम प्रेम से ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । भक्ति और योग का साध्य एक ही है । इसलिए जनसामान्य को योग-मार्ग का स्वीकार करने की अपेक्षा अत्यंत सुलभ भक्ति-मार्ग का स्वीकार करना आवश्यक है ।

संत ज्ञानेश्वर ने जनसामान्य को अपने अभंगों द्वारा भक्तिमार्ग का महत्व बताते हुए कहा है कि मनुष्य को वर्ण और आश्रम की परंपरा के अनुसार प्राप्त नित्य नैमित्यिक कर्मों का पालन, विषयासक्ति का त्याग और अंतःकरण की शुध्दता के आधार पर सगुण की निरंतर भक्ति करनी चाहिए; क्योंकि सामान्य लोगों के लिए योग-मार्ग कठिन मार्ग है । उनके लिए सगुण का ध्यान करना सुलभ होता है । उन्हें ईश्वर का गुणगान और उसकी महिमा का श्रवण करने मात्र से ईश्वर-प्राप्त होता है । इसलिए कठिन योग-मार्ग की कोई आवश्यकता नहीं है ।

तुलसीदासजी के समय एक ओर योगियों ने बाह्याडंबर और हिंसाचार का मार्ग अपना लिया था तो दूसरी ओर ज्ञानमार्गी साधकों ने भक्ति का विवेचन करते हुए वेद-पुराणों की निंदा की थी । योग-साधना जगत् को ठगनेवाली साधना बनी थी । इससे समाज पर बुरा असर हुआ था । इसलिए तुलसीदासजी ने योगसाधना की तीव्र आलोचना करते हुए "कवितावली" में कहा है -

" गोरख जगायो जोगु, भगति भगायो लोगु ।
निगम नियोगतें सो केलि ही छरो-सो है ।। "

एक ओर गोरख द्वारा घोषित योग ने लोगों की भक्ति को भगा दिया था और दूसरी ओर पाखंडियों ने वेदों का नाम लेकर संसार को धोखा देने का संकल्प लिया था । ऐसे समय जनसामान्य को जप, यज्ञ आदि को अपना कर भी सुख नहीं मिल रहा था । तुलसीदासजी ने " विनयपत्रिका " में कहा है, मनुष्य को योगादि साधनों में सुख सपने में भी नहीं मिलता केवल उसके लिए रोग और वियोग ही नसीब होता है । इसलिए योगादि साधनों के पीछे न पड़कर तुलसी ने भक्ति का ही स्वीकार किया है । इसके संबंध में उन्होंने " विनयपत्रिका " में कहा हैं -

" गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राजडगर सो । "

तुलसीदासजी को गुरु से उपदेश मिला था कि मनुष्य को अपने जीवन में राम का भजन करना आवश्यक है । उन्होंने गुरु के उपदेश का पालन करते हुए भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम राजमार्ग की तरह सिध्द किया है ।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए " नवधा भक्ति " के श्रवण, कीर्तन, स्मरण, बंदन, आत्मनिवेदन आदि साधनों को महत्वपूर्ण माना गया है । ईश्वर का गुण-गान, सत्संग, साधुकृपा, गुरु-सेवा, सन्तों की सेवा, मंत्रों का जाप आदि को भी भक्ति के प्रमुख साधनों में स्थान दिया गया है ।

भक्ति का महत्व :

धर्मसाधना में भक्ति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है । उसे परम धर्म कहा गया है । भक्ति सामान्य लोगों की प्रेरक शक्ति है । ईश्वर - प्राप्ति के लिए सब से सहज और सुलभ मार्ग भक्ति-मार्ग है । भक्ति में हृदय की प्रधानता होती है । वह विरक्त या ज्ञानी लोगों के लिए ही प्राप्त नहीं है; वरन् सब के लिए उपलब्ध है ।

हमारे धार्मिक इतिहास में भक्ति दीन-दुर्बल का सहारा है । दुर्बल मानव के दुःख में वह सान्त्वन-सी बन जाती है । इससे भक्त का दुःख दूर हो जाता है। उदयभानू सिंह के शब्दों में - " सांसारिक जीव अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित है । दुःख की निवृत्ति ही उसकी भक्ति या उसके सभी प्रयत्नों का प्रयोजन है । "[6]

भक्ति से मनुष्य को शुध्द ज्ञान प्राप्त होता है । उसके मन से रहा सहा अहंकार, संदेह दूर होता है । भक्ति मनुष्य के उध्दार का अमोघ साधन है । इससे मनुष्य के पापों का नाश होता है । भक्ति के बिना उसका जीवन व्यर्थ है । मनुष्य ईश्वर के प्रति अनुरक्त होकर संसार के सभी बंधनों से मुक्त होता है; किन्तु वह एक साथ एक ही समय संसार के प्रति आसक्त और ईश्वर के प्रति अनुरक्त नहीं हो सकता । डॉ॰ रामेश्वर दयाल ने कहा है - " भक्ति भक्त के संपूर्ण भावलोक की अधिकारिणी होती है; क्योंकि संसार और प्रभु एक साथ दोनों के प्रति अनुराग संभव नहीं है ।"[7]

भक्ति मनुष्य के लिए हितकारी और भयरहित है । भक्ति से मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति एवं मोक्ष की प्राप्ति भी होती है । इसलिए भक्ति महत्वपूर्ण है । भक्ति से मनुष्य अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करता है ।

भक्ति का लक्ष्य :

मनुष्य जीवन-मृत्यु तथा संसार के बंधनों से मुक्ति पाना चाहता है । वह अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार तृप्त और सुखी रहना चाहता है । इसलिए वह अनंत और अगाध ईश्वर को पाने के लिए निरंतर उत्सुक रहता है ।

वेदमन्त्रों में ईश्वर की प्राप्ति को भक्ति का लक्ष्य कहा गया है । भक्ति में भक्त ईश्वर के प्रति श्रध्दा का भाव व्यक्त करता है । वह ईश्वर के साथ तन्मय हो जाता है । उसके लिए उसका ईश्वर आत्मिय और उसका सब कुछ होता है । उसकी साधना का अन्तिम या चरम लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है ।

" केन " उपनिषद के एक ऋषि के अनुसार मनुष्य को इस जन्म में ही ईश्वर को जान लेना आवश्यक है, नहीं तो उसके न जानने पर मनुष्य का महान विनाश ही संभव है । " श्रुति " भगवती भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई कहती है कि जिसने ईश्वर को जान लिया है, वही शान्त और सुखी है । " गीता " ने इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है - ओऽम् ईश्वर का सर्वोत्तम नाम है । जो इस ओऽम् अक्षर का जाप करता हुआ शरीर छोड़ता है, उसे परमगति प्राप्त होती है। " कठोपनिषद " के ऋषि ने इस अविनाशी ईश्वर को परम और सब से श्रेष्ठ माना है । जिस मनुष्य ने इसे जान लिया है, उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है । सन्तों, मुनियों और ऋषियों ने इसके लिए अपना ऐहिक संसार त्याग दिया है ।

निराकार को साकार रूप में प्रस्तुत करना यह भक्ति का प्रमुख लक्ष्य माना गया है; क्योंकि ईश्वर का साकार रूप पाकर भक्त अमर और तृप्त हो जाता है ।

भक्ति के भेद :

ईश्वर के दो रूपों को प्रमुख माना गया है - सगुण और निर्गुण । सगुण के

प्रति की गयी भक्ति को सगुण भक्ति और निर्गुण के प्रति की गयी भक्ति को निर्गुण भक्ति कहते हैं । सगुण भक्ति में ईश्वर को साकार मानकर इसके प्रति भक्ति-भाव प्रकट किया गया । सगुण भक्ति कर्मकांड के निकट है । इसमें श्रध्दा की प्रधानता है । इस भक्ति में उपासक हमेशा अपने अस्तित्व को उपास्य देव से भिन्न रखता है।

निर्गुण भक्ति में ईश्वर के आकार-प्रकार की आवश्यकता नहीं समझी गयी है । इसमें उपासक अपनी भावनाओं से ईश्वर की भक्ति करता है । यह भक्ति ज्ञानमार्ग से अधिक मिलती जुलती है । शंकराचार्यजी ने अपने प्रसिध्द ग्रंथ " विवेक चूड़ामणि " में इसे " स्वस्वरूपानंदन " कहा है । आधुनिक लेखिका श्रीमती पद्मावती ने कहा है - " निर्गुण उपासना अभेद भक्ति पर आधारित है । अपने ही भ्रमजनित भिन्नत्व की प्रतीति का और अपने सत्य रूप का अनुभव करानेवाली प्रक्रिया को ही अद्वैत के अनुसार निर्गुण भक्ति कहते हैं । "[8]

भक्ति के बल पर निर्गुण भी सगुण हो सकता है । चाहे भक्ति सगुण हो या निर्गुण, सर्वोत्तम भक्ति वह है , जिसमें ईश्वर का नामस्मरण, ध्यान, चिंतन भजन करने से आनंद प्राप्त होता है । कुछ लोगों ने ईश्वर के सगुण रूप का स्वीकार किया है । तो कुछ लोगों ने ईश्वर के निर्गुण रूप का स्वीकार किया है । इसलिए भक्ति के भिन्न-भिन्न रूप हो गये हैं । भक्ति-शास्त्र के आचार्यों ने भक्ति के जिन भेदों की चर्चा की है, वह इस प्रकार है --

चैतन्य संप्रदाय के अनुयायी " रूपगोस्वामी " ने भक्ति के निम्नलिखित भेद बता दिये हैं --

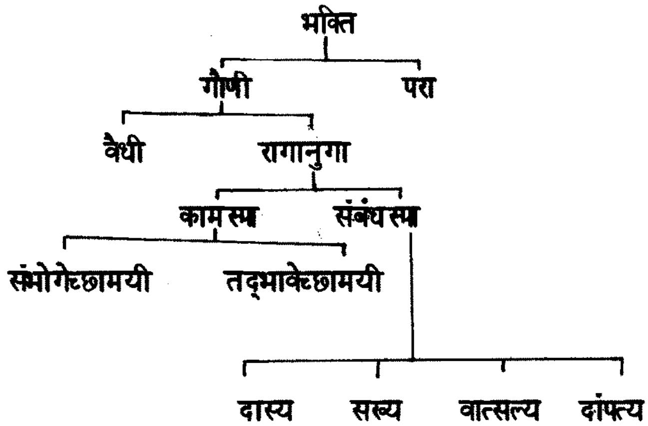

भक्ति के ये भेद साधन और साध्य पक्ष के आधार पर किये गए हैं ।

{अ} <u>साधन पक्ष</u> :

इसे गौणी भक्ति कहा है । इसमें ईश्वर का निरंतर श्रवण, कीर्तन, आराधन किया जाता है ।

{ब} <u>साध्य पक्ष</u> :

इसे परा भक्ति कहा है । इसमें भक्त स्वयं को ईश्वर के चरणों में समर्पित करता है ।

<u>गौणी भक्ति</u> :

इस भक्ति में पुनः दो भेद किए हैं -

§क§ <u>वैधी भक्ति</u> :

इस भक्ति में भक्त अन्त तक शास्त्रोक्त विधि - नियमों का पालन करता है । इसमें पूजा, सेवा, भजन को प्रधान्य दिया गया है । इस भक्ति में ईश्वर के तीन रूपों का उल्लेख मिलता है - क्षमावान, शरणागत वत्सल और करुणायतन रूप । ईश्वर अपने इन्हीं रूपों द्वारा भक्त के करोड़ों पातकों को क्षमा कर उन्हें मुक्ति देता है ।

§ख§ <u>रागानुगा भक्ति</u> :

इस भक्ति में राग की प्रधानता होती है । इसमें शास्त्रीय विधि - नियमों का पालन नहीं किया जाता । इस भक्ति को "उत्तमा भक्ति" भी कहा गया है । इस भक्ति में भक्त के मन में संसार के प्रति अनासक्ति का भाव निर्माण हो जाता है और वह ईश्वर के प्रति आसक्त हो जाता है । फलतः उसे परम शान्ति और आनंद की प्राप्ति होती है ।

इस भक्ति में भक्त का ईश्वर के प्रति रागात्मक संबंध होता है । इसमें तन्मयता को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है । डॉ॰ जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल ने कहा है - "यह भक्ति एकान्तिक भक्ति है, जो इष्टदेव के सिवा और किसी कर्तव्य - अकर्तव्य को नहीं देखती ।[9] इस भक्ति के पुनः दो भेद हैं -

§अ§ <u>कामरूपा</u> :

गोपियों ने श्रीकृष्ण से इस प्रकार की भक्ति की है । वे श्रीकृष्ण के सुख के अतिरिक्त अन्य किसी की भी इच्छा नहीं रखती हैं ।

§आ§ संबंधस्था :

हनुमान, यशोदा, सुदामा और राधा की भक्ति संबंधस्था भक्ति है ।

परा भक्ति :

सिध्द दशा की भक्ति को परा - भक्ति कहा है । इसमें भक्त कामनारहित होकर पूर्ण शांति से ईश्वर के प्रेम में लीन हो जाता है और उसे पूर्ण अनुराग की अवस्था प्राप्त होती है ।

"भागवत" के अनुसार भक्ति के तीन भेद हैं - नवधा भक्ति, विशुध्द भक्ति और प्रेमा भक्ति । इसमें नवधा भक्ति को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है । इसके नौ अंग हैं -

§1§ श्रवण :

ईश्वर के नाम, यश, महत्ता, गुण आदि को श्रध्दापूर्वक सुनना और अन्य को सुनाना इसे "श्रवण भक्ति" कहा जाता है ।

§2§ कीर्तन :

ईश्वर के गुण और महात्म्य लीला का वर्णन या गायन "कीर्तन" है ।

§3§ <u>स्मरण</u> :

ईश्वर के गुण, नाम, महात्म्य और उसकी सर्व - व्यापकता का स्मरण करते हुए तल्लीन हो जाना "स्मरण भक्ति" है ।

§4§ <u>पाद - सेवा</u> :

भक्त का ईश्वर के चरणों की सेवा में रममाण हो जाना ही पाद-सेवा है ।

§5§ <u>अर्चन</u> :

भक्त का ईश्वर के प्रति आदरपूर्वक और श्रध्दा से पूजा करना "अर्चन" है ।

§6§ <u>वंदन</u> :

भक्त का ईश्वर की स्तुति या प्रशंसा करना "वंदन भक्ति" है ।

§7§ <u>दास्य</u> :

इस भक्ति में भक्त ईश्वर का सेवक बनकर उसमें हमेशा तन, मन, वचन से लीन होता है ।

§8§ सख्य :

इसमें भक्त ईश्वर के साथ मित्रत्व की भावना रखता है । वह निःस्संकोचता से अपने हृदय की सभी भली-बुरी बातों को ईश्वर के सामने व्यक्त करता है ।

§9§ आत्मनिवेदन :

इसमें भक्त विनम्र बनकर ईश्वर से क्षमा-याचना करता है । वह सर्वशक्तिमान, पतितपावन ईश्वर की शरण में आकर निष्काम वृत्ति से उसकी भक्ति करता है । भक्त उसमें एकाकार हो जाता है ।

भक्ति के अनेक वर्गीकरणों में "भागवत्" की "नवधा भक्ति" अधिक लोकप्रिय है ।

"नारद भक्ति-सूत्र" में भक्ति को परम प्रेमरूप माना है । इसमें इन ग्यारह आसक्तियों का उल्लेख मिलता है - §1§ गुणमहात्म्यासक्ति §2§ रूपासक्ति §3§ पूजासक्ति §4§ स्मरणासक्ति §5§ दास्यासक्ति §6§ सख्यासक्ति §7§ कान्तासक्ति §8§ वात्यल्यासक्ति §9§ आत्मनिवेदनासक्ति §10§ तन्मयतासक्ति §11§ परमविरहासक्ति।

प्रियादास ने "भक्तमाल" की भूमिका में भक्ति के पाँच भेद बता दिये हैं - शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । इनमें माधुर्य को अधिक महत्वपूर्ण माना गया है । माधुर्य भाव की भक्ति में भक्त स्वयं को नारी या पत्नी और ईश्वर को पुरुष या पति के रूप में देखता है । इसमें भक्त का ईश्वर के साथ रागात्मक संबंध स्थापित

होता है । अतः भक्ति के सभी भेदों में माधुर्य भक्ति को श्रेष्ठ स्थान मिला है ।

"भक्तिसाधना" में बाधक बातें :

भक्तिसाधना में बाधा निर्माण करनेवाली बातें ये हैं - विषयवासना, वाद-विवाद और कलि का प्रभाव । विषयवासना से भक्त के मन में राग-द्वेष आदि स्वभाव दोष आते हैं, जो भक्ति में बाधा निर्माण करते हैं । भक्त का मन विषयवासना के त्यागसे भक्ति की ओर आकर्षित होता है । साधना मार्ग में आस्तिक - नास्तिक, सगुण- - निर्गुण आदि वाद - विवाद हैं । भक्त इन वादविवादों का त्याग करके ही भक्ति में लीन होता है । कलि के प्रभाव से भक्त बुरे विचारों का शिकार हो जाता है । अतः यह भी एक भक्ति में निर्माण होनेवाली बाधा है । इसलिये भक्त इन सब से बचकर चलता है ।

भक्त के सहायक तत्व :

गुरु, सत्संगति और सदाचार ये भक्त की भक्ति में कार्य करनेवाले सहायक तत्व हैं । इन तीनों का भक्ति में अनन्य साधारण महत्व है । इनसे भक्त में अंतर्बाह्य परिवर्तन होता है और उसे उज्ज्वल एवं नया जीवन प्राप्त होता है ।

भक्ति का विकास :

प्रारंभ में मनुष्य ने अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि को विभिन्न देवों के रूपों में देखा । उनमें उनमें भिन्न-भिन्न शक्तियों की कल्पना भी की । आगे चलकर

इसका शिलान्यास उपनिषदों के उपासना काण्ड में हुआ । उपनिषद काल में भक्ति का रूप स्पष्ट होने लगा । वैदिक काल में रुद्र को पशुपति और महादेव को शिव कहा गया। विष्णु और नारायण को भी वासुदेव और कृष्ण का रूप प्राप्त हुआ । इस काल में यह बात स्पष्ट हो गयी कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए ज्ञानमार्ग के साथ उपासना भी आवश्यक है । इससे यह निश्चित होता है कि भक्ति का स्वाभाविक विकास वैदिक काल में हुआ । इसे भक्ति का प्रथम उत्थान कहा गया ।

भक्ति के द्वितीय उत्थान की शुरुआत गीता से हो गयी । इसमें निष्काम कर्म को अधिक महत्व दिया गया । इसके अनंतर जैन और बोध्द आदि धर्मो का प्रचार होने लगा । इन धर्मों के प्रवर्तकों ने मूर्तियों और मंदिरों की स्थापना की । यह भक्ति का तृतीय उत्थान है । बौध्द धर्म का प्रभाव छठी शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक रहा । इस धर्म में "महायान" और "हीनयान" ऐसे दो संप्रदाय हो गए ।

बौध्द धर्म के बाद भक्ति के क्षेत्र में शंकराचार्यजी का आगमन हुआ । इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है । शंकराचार्य ने वेद-विरोधी विचारधारा के नाम पर चलनेवाले कुकर्मों को रोक दिया । इन्होंने प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनः स्थापना करके आध्यात्मिक दर्शन को स्पष्ट किया । इससे देश में आध्यात्मिकता के क्षेत्र में नवीन शक्ति का संचार हुआ ।

कुछ दिनों बाद शंकराचार्यजी के अद्वैतवाद का विरोध हुआ । अद्वैतवाद के विरोध में वैष्णव आचार्यों ने आंदोलन चलाया । उसमें रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत और वल्लभाचार्य ने शुध्दाद्वैत के तत्वों का स्वीकार कर प्रचार किया । रामानुजाचार्य की शिष्य - परंपरा में रामानंद का नाम उल्लेखनीय है । इन्होंने राम को अवतार मानकर उसकी भक्ति का प्रचार किया । महत्वपूर्ण बात यह है कि रामानंद की शिष्य-परंपरा में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के

भक्तों का समावेश है । मध्यकाल तक सभी संप्रदायों में भक्ति को प्रबल, प्रेरक एवं शक्तिके रूप में माना गया । साथ ही उसका क्रमिक और सर्वांगीण विकास होता गया । उसका प्रवाह व्यापक बना और उसने मनुष्य के हृदय और मन को तृप्त किया ।

निष्कर्ष :

मनुष्य अपनी विचारशक्ति के कारण सभ्य बना । वह समाज में संगठित हुआ । उसने समाज में नैतिकता लाने के लिए शक्तिशाली सत्ता की कल्पना की और वहउसे "ईश्वर" के रूप में देखने लगा । उसके मन में ईश्वर के स्वरूप-संबंधी जिज्ञासा पैदा हो गयी । वह उसे प्राप्त करने की कोशिश करने लगा ।

ईश्वर की प्राप्ति के लिए मनुष्य ने "साधना" के तीन मार्गों का अवलंब किया; किन्तु इनमें से सबसे सुलभ, सहज और सबके लिए उपलब्ध ऐसे "भक्तिमार्ग" को श्रेष्ठ माना गया ।

भारतीय साहित्य में भक्ति का अर्थ है - ईश्वर की सेवा करना । ईश्वर के प्रति अनुराग, निःस्वार्थ प्रेम, श्रध्दा या अनुरक्ति ही भक्ति है ।

भक्ति के मुख्य रूप से दो भेद हैं - सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति । साधन और साध्य पक्ष के आधार पर भक्ति के दो भेद किए गए हैं - गौणी भक्ति और परा भक्ति । गौणी भक्ति के पुनः दो भेद हैं - §1§ वैधी भक्ति §2§ रागानुगा भक्ति । वैधी भक्ति में शास्त्रोक्त विधि-नियमों का पालन किया जाता है, किन्तु रागानुगा भक्ति में किसी शास्त्रीय विधि-नियमों का पालन नहीं किया जाता । इसलिए रागानुगा भक्ति को अधिक महत्व मिला है । परा भक्ति में भक्त को ईश्वर के प्रति पूर्ण अनुराग की दशा प्राप्त होती है । "भागवत्" में "नवधाभक्ति" का विशेष उल्लेख है । भक्ति के

सभी वर्गीकरणों में यह भक्ति लोकप्रिय है । " नारद भक्ति-सूत्र " में भक्ति की ग्यारह आसक्तियों को महत्वपूर्ण माना गया है । भक्ति के अनेक भेदों में " माधुर्य भक्ति" श्रेष्ठ है; क्योंकि इस भक्ति में भक्त और भगवान के बीच रागात्मक संबंध स्थापित होता है ।

भक्ति की साधना में विषयवासना, वादविवाद और कलि के प्रभाव को बाधक माना गया है । भक्त के सहायक तत्वों के रूप में गुरु, सत्संगीत और सदाचार को स्वीकार किया गया है ।

भक्ति का आरंभ वैदिक युग से हुआ । उपनिषदों में उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हुआ । "गीता" में निष्काम भक्ति को अधिक महत्व दिया गया । आगे चलकर जैन और बौध्द धर्म का प्रचार हुआ । बौध्द धर्म के विरोध में शंकराचार्यजी ने अद्वैतवाद की स्थापना की । अद्वैतवाद के विरोध में वैष्णव आचार्योंने भक्ति का आंदोलन चलाया । उसमें रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क ने द्वैताद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने शुध्दाद्वैत के तत्वों का स्वीकार किया । इसके बाद भक्ति का क्षेत्र विस्तृत बनकर भक्ति के विभिन्न संप्रदायों में पल्लवित और विकसित होता गया ।

संदर्भ ग्रंथ - सूची

§1§ खट्टर रमेशकुमार

"नंददास"

पृष्ठ क्र• 293

जगदीश भारद्वज, सामायिक प्रकाशन दिल्ली - 6

प्रथम संस्करण - 1967

§2§ डॉ• दक्षिणामूर्ति एन•एस•

"हिन्दी और तेलुगु के कृष्ण-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन"

पृष्ठ क्र• 169

हिन्दी साहित्य भंडार, सराय मालीखाँ, चौपटियाँ रोड लखनऊ - 3

प्रथम संस्करण - 26 नवंबर 1967

§3§ डॉ• पाटील कुमुदिनी

"संत ज्ञानेश्वर एवं तुलसीदास : तुलनात्मक अध्ययन"

पृष्ठ क्र• 94

चिन्तन प्रकाशन 787/14 पशुपतिनगर नौबस्ता कानपुर - 208021

प्रथम संस्करण - जून 1989

§4§ डॉ• वियोगी लीलाधर

"रसखान भक्त और कवि"

पृष्ठ क्र•20

सूर्य प्रकाशन नई सडक, दिल्ली 110006

प्रथम संस्करण - 1982

§5§ डॉ• शर्मा मुंशीराम

"भक्तितरंगिणी"

पृष्ठ क्र•35

चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी - 1

प्रथम संस्करण - 1959

§6§ सिंह उदयभानु
"तुलसी"
पृष्ठ क्र•194
ओमप्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन 4/14, रूपनगर दिल्ली - 7
प्रथम संस्करण - 1965•

§7§ डॉ• दयाल रामेश्वर
"मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति परंपरा और लोक-संस्कृति"
पृष्ठ क्र•92
हरीराम द्विवेदी पांडुलिपि प्रकाशन ई/12/5 कृष्णनगर, दिल्ली 110051
प्रथम संस्करण - 1975

§8§ श्रीमती पद्मावती
"मीराँ का व्यक्तित्व और कृतित्व"
पृष्ठ क्र•80
विजयप्रकाश बेरी, हिन्दी प्रचारक, संस्थान पो•बा• 106 पिशाचमोचन
वाराणसी 221001
प्रथम संस्करण - 1973

§9§ डॉ• खण्डेलवाल जयकिशन प्रसाद
"हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ"
पृष्ठ क्र• 158
विनोद पुस्तक मन्दिर, रांगेय राघव मार्ग, आगरा - 2
अष्टम संस्करण - 1971